RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-1, दिसम्बर 2023 जनवरी फरवरी 2024

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 अंक - 1 दिसम्बर 2023-जनवरी-फरवरी-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

वेदों में राजनीतिक प्रशासन के स्वरूप की विवेचना

डॉ. मुकेश शर्मा
विभागाध्यक्ष (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

वेदों में राजनीतिक प्रशासन का स्वरूप धर्माधारित, न्यायप्रधान और प्रजावत्सल शासन व्यवस्था के रूप में विकसित दिखाई देता है। प्राचीन भारतीय मनन में राजनीति शुष्क सत्ता का साधन न होकर नैतिकता, आचार, संगठन और समाज के अभ्युदय का मार्ग मानी गयी। स्मृतियों ने इसी धर्म को राजधर्म कहा है, जिसका उद्देश्य केवल शासन के बाह्य स्वरूप की रक्षा न होकर मानव जीवन की ऐहलौकिक तथा पारलौकिक उन्नति था। इसीलिए दार्शनिकों ने इस प्रशासन को अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का साधन माना। मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति, सामाजिक संगठन तथा सामूहिक हित की रक्षा के लिए राजनीतिक व्यवस्था का विकास आवश्यक माना गया, और वेदों में यह संकल्पना ही प्रशासनिक दर्शन का मूल रहा।

शुक्राचार्य ने मानव समाज के संचालन के लिए 32 विद्याओं का उल्लेख किया है, जिनमें अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्पशास्त्र, दर्शन और युद्धनीति जैसी शाखाएँ भी सम्मिलित हैं। इन विद्याओं की संकल्पना दर्शाती है कि राजनीतिक प्रशासन केवल राजकीय नियमों का संग्रह नहीं बल्कि अनेक शास्त्रों के समन्वय से निर्मित एक सुदृढ़ व्यवस्था है। छान्दोग्य उपनिषद् के अंतर्गत जो विद्या-शाखाएँ वर्णित हैं उनमें राजविद्या, युद्ध नीति तथा नक्षत्र विद्या का वर्णन प्रशासन के विज्ञान के रूप में मिलता है। यह प्रमाणित करता है कि उपनिषद् काल में भी व्यवस्था, न्याय, सुरक्षा तथा सत्ता-व्यवस्था के विचार विद्या के रूप में प्रतिष्ठित थे।

जातक ग्रंथों में भी विविध विद्या-शाखाओं में राजनीति का विवरण मिलता है। यहाँ राजनीति को सामान्य विद्या न मानकर जीवन-पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया। कौटिल्य के अनुसार राजनीति प्रशासन का शास्त्र दण्डनीति है, जिसका उद्देश्य दण्ड द्वारा व्यवस्था की स्थापना, न्याय की रक्षा और प्रजा के हित की सुनिश्चितता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अर्थ का तात्पर्य केवल धन उपलब्धि न होकर मनुष्यों द्वारा बसी भूमि की सुरक्षा, पालन और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था है। उन्होंने शासन के लिए आन्विक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति चार मूल विद्याओं का विवेचन किया जिनसे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में राजनीति का आधार पूर्णतः दार्शनिक, तर्कपूर्ण, धर्माधारित और सामाजिक हितकारी था।

प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था के सम्बन्ध में टी. एन. बनर्जी का मत अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। उनका कथन है कि जिस प्रकार का शासन विन्यास प्राचीन भारत में विकसित हुआ था, उसे पूर्णतः निरंकुश राजतन्त्र नहीं कहा जा सकता, अपितु वह अपनी प्रकृति में 'संवैधानिक राजतंत्र' के रूप में अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यह सत्ता केवल राजा के व्यक्तिगत अधिकार पर आधारित न होकर, सचिवों, मंत्रियों और विद्वजनों के सहयोग से संचालित होती थी। राज्य का संचालन सामूहिक विचार-विमर्श और प्रजा के

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

हित को ध्यान में रखकर किया जाता था, इस कारण बनर्जी की यह अभिधा कि वह 'सचिव-तंत्रात्मक राजव्यवस्था' थी, यथार्थपरक प्रतीत होती है।

प्राचीन भारत की राजनैतिक संकल्पना केवल राजतांत्रिक राज्यों तक सीमित न होकर गणराज्यों में भी जनमत और जनसभा की बड़ी प्रतिष्ठा थी। विविध राज्यों में समितियों, सभाओं और पंचायतों के माध्यम से राजनीतिक निर्णय लिये जाते थे। के. बी. रंगास्वामी आयंगर ने अपने 1914 के व्याख्यानों पर आधारित ग्रन्थ 'सम आसपैक्ट्स ऑफ एंशियंट इंडियन पॉलिटी' में राजव्यवस्था की रूपरेखा को अनेक दृष्टियों से स्पष्ट किया है। उनका मत है कि वेदकाल से लेकर उत्तरवैदिक काल तक शासन का स्वरूप निरन्तर विकासशील रहा, और अपनी व्यवस्था में धर्म, न्याय तथा लोकहित को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा।

जायसवाल की 'हिन्दू पॉलिटी' इस क्षेत्र में एक उल्लेखनीय कृति है। उन्होंने प्राचीन शासन व्यवस्था का विवेचन वेदों से आरम्भ कर, ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति, महाकाव्य और कौटिल्य तक के संदर्भों में विस्तार से प्रस्तुत किया है। उनका निष्कर्ष यह है कि भारत में राजनीतिक चिन्तन का मूल स्रोत वेद हैं और उसके बाद यह क्रमशः परिपक्व हुआ। वेदांतीय दृष्टि का प्रभाव पूरी भारतीय राजनीति पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

राजनीतिक आकांक्षाओं के उदय का फल यह हुआ कि विद्वानों में भारतीय राजव्यवस्था के इतिहास के प्रति गहरी रुचि उत्पन्न हुई। इस व्यवस्था में केवल धार्मिक संस्कार ही नहीं, अपितु विवेक, तर्क और प्रतिभा का भी समुचित प्रयोग हुआ। अनेक राजकीय व्यवहार और विधियाँ प्राचीन धार्मिक दर्शन से प्रभावित होकर भी स्वतंत्र न्यायबुद्धि और प्रजातांत्रिक प्रवृत्तियों का परिचय देती हैं। इस प्रकार भारतीय प्रशासन के प्रारंभिक रूप में ही ऐसी राजनीतिक चेतना विकसित हुई जिसके आधार पर प्रशासन संवैधानिक, परामर्श-प्रधान, प्रजा हितकारी और लोक दायित्वबोध से युक्त बना।

राजनीतिक विचारधाराओं की आधारभूमि प्राचीन भारतीय परंपरा में धर्म को माना गया, जहाँ राजनीति के सिद्धांत किसी व्यक्ति विशेष की आकांक्षा नहीं, बल्कि समष्टिगत व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित थे। इसलिए प्रशासनिक या राजनैतिक अवधारणाएँ 'आचार-धर्म' के रूप में अभिहित होकर समय और परिस्थिति से ऊपर स्थायी सिद्धांत के रूप में स्वीकार की गईं। राजा का धर्म केवल शासन करना नहीं, बल्कि अपनी प्रजा के साथ पुत्रवत् व्यवहार करना था। नीतिकारों के दृष्टिकोण से राजा धर्म का स्वामी नहीं, बल्कि रक्षक, परिचालक और सेवक होता है। उसका प्रथम कर्तव्य यह है कि वह स्वयं धर्म का पालन करे और अपने जीवन तथा शासन दोनों क्षेत्रों में धर्म के कठोर अनुशासन को स्वीकार करे; अपराध, अत्याचार और उच्छृंखलता को रोके तथा समाज में न्याय और व्यवस्था की प्रतिष्ठा करे।

धर्म को राजसत्ता से अलग सत्ता नहीं माना गया, बल्कि राजसत्ता धर्म का ही विस्तार मानी गई। यही कारण है कि राजनीतिक आदेश और संगठन सामाजिक-धार्मिक परिवेश में ही निर्धारित होते थे, और राजा के साथ-साथ अन्य अधिकारी भी उसी धर्माधारित कर्तव्य-चेतना को स्वीकारते थे। यह राजनीतिक सत्ता का वैयक्तिक रूप न होकर सामाजिक और नैतिक संगठन का अभिन्न अंग थी। इस प्रकार प्रजा के प्रति जवाबदेही और सामाजिक दायित्व राजशक्ति के अस्तित्व का आधार बने।

बौद्धिक-वैदिक काल में आर्य समाज विभिन्न जनों में विभक्त था। इन जनों में अनु, दृह, यदु, पुरू और त्रुवत प्रमुख माने गए जिन्हें 'पंचजन' कहा गया। प्रत्येक जन का अधिपति राजा कहलाता था और

यहीं से राजनीतिक संगठन प्रारंभ हुआ। राजनीतिक संरचना की सबसे छोटी इकाई 'कुल' या परिवार थी, जिससे समाज की मूल राजनीतिक इकाई का निर्माण होता था। हर जन का नाम या तो किसी महापुरुष के नाम पर रखा जाता था या किसी वर्तमान शक्तिशाली पुरुष के अनुरोध में उसकी पहचान बनती थी। एक जन के सभी व्यक्ति आपस में सजात और सन्नाधि कहलाते थे—अर्थात् एक ही जाति, रक्त और संगठन से संबद्ध।

इसी राजनीतिक व्यवस्था के भीतर धर्म का शासन सिद्धांत विकसित हुआ, और धीरे-धीरे इसे 'राजधर्म' की संज्ञा प्राप्त हुई। राजधर्म का तात्पर्य यही था कि राजा अपने अधिकार को धर्म के संरक्षण हेतु प्रयोग करे, प्रजा के हित को सर्वोपरि रखे और सामाजिक न्याय की रक्षा में कोई विपथ न हो। इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीति में नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व आधारशिला बनकर उभरे, जिससे राज सत्ता धर्म और लोककल्याण की एकीकृत व्यवस्था का रूप धारण करती है।

ऋग्वैदिक काल में शासन-प्रणाली सामान्यत: राजतंत्रात्मक स्वरूप में पायी जाती है। राजनीति का उल्लेख इस काल में अनेक स्तरों पर हुआ है और राजा को जन का रक्षक, संरक्षक और शत्रुओं के दुर्गों का भेदन करने वाला बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि राजनीतिक सत्ता का उदय मुख्यत: युद्ध, सुरक्षा और सैन्य संगठन की आवश्यकताओं से हुआ था। जनसमूह को एकत्र करने, सेना का संचालन करने और युद्ध के संकटों का सामना करने के लिए राजसंस्था का विकास स्वाभाविक था। उस समय राज्य छोटे-छोटे थे और एक राज्य में सामान्यतया एक ही जन या कुल के लोग निवास करते थे; इसी कारण राजा और प्रजा में निकट सामाजिक सम्बन्ध स्थापित रहता था। राजा युद्ध में अग्रणी रूप से नेतृत्व करता था और उसकी राजनीतिक भूमिका यहीं से प्रतिष्ठित होती गयी।

ऋग्वैदिक काल में राजा को दैवीय पद नहीं माना गया था। प्रारम्भ में उसकी स्थिति एक कबीलाई नेता के समान थी, परन्तु समय के साथ उसकी प्रतिष्ठा और अधिकार बढ़ते गये और वह सम्राट के रूप में सम्मानित होने लगा। राजा का निवास स्थान भी इसी विकास का सूचक है। प्रारम्भ में वह साधारण गृह में रहता था, किन्तु उत्तर काल में उसके लिए विशाल राजमहल और अनेक भवन निर्मित करने पड़ते थे। यह राजनीतिक अधिकार और सामाजिक प्रभाव का संकेत प्रदान करता है।

राजा के चयन की पद्धति भी आरंभ में प्रजातांत्रिक थी। राष्ट्र की समस्त प्रजा मिलकर राजा का चयन करती थी, परंतु धीरे-धीरे यह पद वंशानुगत होता चला गया। राजा का मुख्य धर्म प्रजा के कल्याण हेतु सेवा और रक्षा करना माना गया। इसी सेवा और संरक्षण के बदले प्रजा उसे उपहार देती थी, और इन्हीं उपहारों को ऋग्वेद में 'बलि' कहा गया है। इस व्यवस्था का आधार केवल कर या राजभक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक संबंध और कर्तव्य के सिद्धांत पर टिके हुए थे।

राजशासन के संचालन में राजा अकेला नहीं होता था; उसके अंग और उपांग उसके कार्यों में सहायता करते थे। शासन की मूल प्रेरणा धर्म थी, जिसके आधार पर राजा और प्रजा के बीच स्थायी संबंध निर्मित था। यही संबंध शासन का उद्देश्य और आधार बनता था। राजा की शक्ति धर्म द्वारा निर्धारित संविधान से मर्यादित रहती थी। कर लगाने के अधिकार पर भी सीमा का निर्धारण किया गया था और राजस्व की व्यवस्था एक प्रतिशत से अधिक न होने के सिद्धांत से नियंत्रित थी। इसके अतिरिक्त, समाज के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाले संघों व सभाओं का मत भी शासन निर्णयों में महत्वपूर्ण माना जाता था।

यह धारणा भी प्रचलित थी कि राजा का शासन तभी वैध है जब प्रजा उसकी संतुष्टि और सद्भावना के साथ जुड़ी रहे। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल का राजतंत्र निरंकुश नहीं, बल्कि धर्माधारित, सामाजिक आधार पर नियंत्रित और प्रजा-संतुष्टि पर आश्रित राजव्यवस्था के रूप में विकसित हुआ।

प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था का सर्वप्रथम और प्रमुख लक्षण यह था कि उसमें स्वेच्छाचारिता या राजसत्ता का दमनकारी रूप न के बराबर मिलता है। यह कहना उचित नहीं कि अत्याचार बिल्कुल नहीं था, किन्तु उसका प्रसार अपवाद रूप में ही था। वैदिक काल का राजनीतिक परिवेश इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि राजा धर्मपरायण सत्ता का परिचालक था, किन्तु यदि वह धर्म की अवहेलना करता, या शासनादेशों के प्रयोग में अतिरेक दिखाता, तो समाज में असंतोष उत्पन्न होता। शासन-शक्ति के दुरुपयोग की ऐसी घटनाएँ कभी-कभी संभव थीं, और इसी संभाव्यता को नियंत्रित करने के लिए सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएँ निर्मित की गईं।

सभा और समिति जैसी संस्थाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यरत थीं। ये न केवल राजनीतिक नियंत्रण करती थीं, बल्कि प्रशासन में प्रजा का सहभाग भी सुनिश्चित करती थीं। सभा विद्वानों और कुलीनों का संगठन थी, जबकि समिति अधिक प्रत्यक्ष जनप्रतिनिधित्व का स्वरूप रखती थी। इन संस्थाओं की मौजूदगी यह सिद्ध करती है कि शासन व्यवस्था का उद्देश्य केवल राजा के व्यक्तिसत्ता को बढ़ाना नहीं, बल्कि सामाजिक समन्वय और सामूहिक निरीक्षण था।

एंगेल्स के अनुसार राज्य के चार मुख्य तत्व होते हैं—कर, भू-भाग, लोकबल और लोकाधिकारी। वैदिक काल में भी ये लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। पारिवारिक व्यवस्था और निजी संपत्ति की सुरक्षा के लिए राजसत्ता की आवश्यकता स्वीकृत थी। ऋग्वेद में 'वृत्त' और 'ग्राम' जैसे शब्द प्रशासन और सामाजिक संगठन के रूप को स्पष्ट करते हैं। वृत्त का संबंध आर्थिक गतिविधि और सैन्य संगठन से था, जबकि ग्राम समाज की इकाई थी, जिसका संचालन सामूहिक जिम्मेदारियों पर आधारित था।

जीविका के दो प्रमुख साधन इस काल में विशिष्ट रूप से लक्षित होते हैं—एक, युद्ध; और दूसरा, बलपूर्वक खाद्य सामग्री का संग्रह, चाहे वह पशुधन के रूप में हो या अन्य भौतिक संपदा। ऋग्वेद में वर्णित युद्धों का मुख्य उद्देश्य गायों की प्राप्ति था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक संरचना पशुधन-केंद्रित थी। गायें समृद्धि, अन्न-उत्पादन और सामाजिक स्थायित्व का आधार थीं, इसलिए उनके लिए युद्ध लड़े जाते थे। यह न केवल राजनीतिक गतिविधि थी, बल्कि आर्थिक आवश्यकता का परिणाम भी।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'वृर्श' शब्द सेना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि युद्ध-समूह या सैन्य दल का उदय मूलत: जीविका-साधन की आवश्यकताओं से हुआ था। वैदिक काल में संगठन का विकास व्यवहार, रूढ़ि और आचार-प्रक्रियाओं की क्रमिक प्रगति से हुआ। ग्राम और कबीले में उस समय कोई स्पष्ट अंतर नहीं था; इसलिए ऋग्वेद में 'ग्राम' शब्द गाँव के अर्थ में नहीं, बल्कि जनजातीय-सैन्य समूह के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वैदिक समाज की मूल रचना 'जन-विश-गृह' जैसे संगठनों पर आधारित थी। राजा का सम्बन्ध जनजाति से घनिष्ठ रूप से जुड़ा था और शासन का दायरा जन से राष्ट्र तक विस्तृत होता था। प्रशासनिक संरचना में ग्रामों को मिलाकर 'विश', विश को मिलाकर 'जन', और जनों को मिलाकर 'राष्ट्र' की संज्ञा दी गयी। यही व्यवस्था प्रारम्भिक राजनीतिक संघटन का आधार बनती है। इस राजनीतिक संरचना को सफल

बनाने में पुरोहित की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। वह राजा के साथ रहता, विजय के लिए देवताओं से प्रार्थना करता तथा मार्गदर्शक, मित्र और शिक्षक के रूप में कार्य करता। पुरोहित का प्रभाव शासन-कार्यों में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है—राजा वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे पुरोहितों पर विशेष श्रद्धा रखता था।

सैनिक नेतृत्व 'सेनानी' के हाथ में रहता था, जो राजा के आदेशानुसार युद्ध संचालन करता था और शांति काल में नागरिक कार्यों में भी सहायक रहता था। ग्राम प्रशासन सैनिक-प्रशासनिक दृष्टि से 'ग्रामणी' के नेतृत्व में चलता था, जो ग्रामवासियों का प्रतिनिधि और रक्षक दोनों होता था। 'दूत' नामक कर्मचारी राजा के संदेश, आदेश और संपर्क कार्य को सम्पादित करते थे। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य राजकीय कर्मियों का भी संकेत मिलता है जिनकी भूमिका शासन को नियमित और व्यवस्थित बनाए रखने में थी।

शासन-व्यवस्थाओं का क्षेत्र इस काल में अनेक रूपों में विकसित हुआ। स्थायी प्रादेशिक राज्यों की स्थापना के साथ ही सुव्यवस्थित शासन प्रणालियाँ स्पष्ट होती हैं। शतपथ ब्राह्मण में तीन राजनीतिक संरचनाओं राज्य, साम्राज्य और स्वराज्य का उल्लेख मिलता है। वहीं ऐतरेय ब्राह्मण में शासन व्यवस्थाओं का और भी विस्तृत वर्गीकरण दिखाई देता है—साम्राज्य, राज्य, स्वराज्य, भोज्य, वैराग्य, आरमिष्ठ और महाराज। इन शासकीय रूपों से यह ज्ञात होता है कि राजनीतिक चेतना केवल सामरिक और आर्थिक संदर्भ में नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल पर भी विकसित थी।

यजुर्वेद में वर्णित राजकीय व्यवस्था से स्पष्ट होता है कि वैदिक शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं संगठित स्वरूप का था। यहाँ विभिन्न विभागों का उल्लेख मिलता है, जिनका उद्देश्य समाज, राज्य और जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। नृत्य, संगीत और नाट्य के लिए अलग विभाग थे; धर्म पालन और लोकनैतिक आचरण की देखरेख के लिए विशेष धर्म विभाग था; दुष्ट प्रवृत्तियों के दमन के लिए दुष्टजन-निवारण विभाग कार्य करता था। काष्ठकला, धातु-निर्माण तथा ताप-नियन्त्रण जैसे तकनीकी और हस्तकला विभागों की भी कल्पना की गई थी।

इसी प्रकार आश्चर्य रचना, उद्यान सज्जा, अस्त्र-शस्त्र निर्माण, ईंधन, प्रकाश और जल विभाग स्वतंत्र रूप से कार्य करते थे। जलमार्ग यातायात, सिंचाई तथा नदियों की गहराई मापन जैसे विषय भी राजकार्य के भीतर आते थे। सेना और युद्ध संबंधी विभागों के साथ शिक्षा, न्याय, स्वास्थ्य, सामाजिक कल्याण तथा मनोरंजन की व्यवस्था के लिए विस्तृत तंत्र का वर्णन मिलता है। वन विभाग, पशुपालन विभाग, कृषि-अन्न विभाग, गौ, अश्व और हस्ती संबंधी विभाग राज्य को आत्मनिर्भर बनाने का कार्य करते थे। उपद्रव रोकने, अपराध दमन करने तथा दण्ड विधान लागू करने के लिए विशेष विभाग स्थापित थे।

यजुर्वेद के सोलहवें अध्याय में इस प्रकार के अनेक विभागों का विवरण मिलता है, जिनकी नियुक्ति और संचालन राजा की देखरेख में होता था। इन अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती थी। मंत्रिपरिषद की संख्या निश्चित न होकर समय, परिस्थिति और आवश्यकता के आधार पर बदल सकने योग्य समझी गई। मंत्रियों के लिए वेदों और शास्त्रों का ज्ञान, उत्कृष्ट गुण, कुलीनता, पराक्रम, उच्च लक्ष्य और निष्पक्षता की अपेक्षा की गई। इसके अलावा मुख्य सेनापति, वाणिज्य मंत्री, लेखा निरीक्षक, वनरक्षक, पशुपालन अधिकारी आदि पद भी यथायोग्य नियुक्त किए जाते थे। मनोरंजन और सांस्कृतिक संरक्षण के अंतर्गत नृत्य-संगीत, वाद्य और नाट्य की संस्थाओं का संचालन भी राजकीय संरक्षा में होता था।

निष्कर्षत: उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वैदिक राजव्यवस्था अत्यंत संगठित, बहुआयामी और समाजोपयोगी थी। यजुर्वेद में दर्ज विभिन्न विभागों से ज्ञात होता है कि प्रशासन केवल सुरक्षा या युद्ध तक सीमित नहीं था, बल्कि कला, शिक्षा, उद्योग, कृषि, पशुपालन, न्याय, स्वास्थ्य, परिवहन, जल प्रबंधन, वन संरक्षण और सामाजिक कल्याण जैसे सभी क्षेत्रों को समाहित करता था। प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति योग्यता, चरित्र, विद्वत्ता और निष्पक्षता पर आधारित थी। मंत्रिपरिषद निश्चित संख्या में न होकर समयानुसार परिवर्तनशील समझी जाती थी। राजा धर्म का पालन कराने और समाज में संतुलन बनाकर रखने वाला प्रधान अधिकारी था, परंतु उसके साथ जनसभा, पुरोहित, सेनानी और विभिन्न प्रशासनिक अधिकारी मिलकर शासन को सुचारु रूप से चलाते थे।

अन्तत: वैदिक शासन का उद्देश्य केवल आदेश देना नहीं था, बल्कि समाज के सभी वर्गों की आवश्यकताओं, हितों और उत्तरदायित्वों को प्राकृतिक एवं न्यायपूर्ण व्यवस्था में पूरा करना था। यह सामुदायिक स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय और समष्टिगत सहयोग पर आधारित एक उच्च एवं संतुलित प्रणाली थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *Jayaswal, K. P. Hindu Polity, Oxford University Press, Oxford, 1924*
2. *Rangaswami Aiyangar, K. B., Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras University Press, Madras, 1914.*
3. *Majumdar, R. C. (ed.) , The History and Culture of the Indian People (Vol. 3), Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1951*
4. *Banerjee, T. N., Public Administration in Ancient India, Munshi Lal Manoharlal Publishers, Delhi, 1962.*
5. *Kautilya. Arthashastra, Commentary by Kapilendra Kumar Jain, Munshi Lal Manoharlal Publishers, Delhi, 1960*
6. *Chandogya, Aitareya & Shatapatha Brahmana (English Translations), Sacred Books of the East Series, Oxford University Press, Oxford. (Reprint editions : 1880–1890; modern available 20th century reprints.)*
7. *Radhakrishnan, S., Indian Philosophy, Vol. I, George Allen & Unwin Ltd., London, 1923.*
8. *अनन्ता जर्नल, प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा एवं संस्कृत कथा साहित्य, अनन्ता जर्नल, Vol. 1, Issue 3, 2025*

6\. *शुक्रनीति / शुक्रनीतिसार, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी*

10\. *ऋग्वेद संहिता, चौखम्बा संस्कृत सीरीज कार्यालय, वाराणसी, पुनर्मुद्रण 2016*

11\. *ऋग्वेद (अर्थ व अनुवाद सहित), अनुवादक: राल्फ टी.एच. ग्रिफिथ, मोती लाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, पुनर्मुद्रण 1995*

12. *ऐतरेय ब्राह्मण (अंग्रेज़ी अनुवाद सहित), सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट सीरीज, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1882*

13. *शतपथ ब्राह्मण, अनुवाद: जूलियस एगेलिंग, सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1885*

14. *छान्दोग्य उपनिषद् (आलोचनात्मक संस्करण), मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1981*

15. *यजुर्वेद संहिता, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, पुनर्मुद्रण 2018*

16. *यजुर्वेद भाष्य - महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्य प्रकाशन, अजमेर, 1917*

17. *कौटिल्य - अर्थशास्त्र, टीका: के. पी. जैन, मुंशी लाल मनोहरलाल प्रकाशन, दिल्ली, 1960।*

18. *आर. सी. मजूमदार (संपादित) - 'भारतीय जनता का इतिहास और संस्कृति' (प्रथम खंड), भारती विद्या भवन, बंबई, 1951*